

आचार्य जिनसेन

का

दार्शनिक दृष्टिकोण

—डा. उदयचंद्र जैन

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। ये हमारी संस्कृति एवं धर्म के संरक्षण और सर्वसाधारण जनों को नीति, चारित्र्य, योग, सदाचार आदि की शिक्षा देने वाले महान्तम ग्रन्थ हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य धार्मिक संस्कारों को दृढ़ तथा सरल, सुबोध भाषा में अध्यात्म के गूढ़ तत्वों को समझाना रहा है, इसलिए ये ज्ञान-विज्ञान के कोश कहे जाते हैं। क्योंकि इनमें सभी वेद और उपनिषदों के ज्ञान को विभिन्न कथानकों के माध्यमों से समझाने का प्रयास किया गया है।

पुराण-साहित्य का विकास आज से नहीं अपितु प्राचीन काल से ही होता आया है। इनकी कथा, कहानी एवं दृष्टांत प्राचीन ही हैं। जैसा भाषा-शैली में समयानुसार परिवर्तन होता चला गया, वैसा ही पुराण का रूप भी होता चला गया, फिर भी इनमें प्राचीनता का अभाव नहीं हुआ।

ये सर्वसाधारण के उपकार की दृष्टि से ही लिखे गये हैं। तत्वों का विवेचन लोकोपकारी कथानकों, प्रभावशाली दृष्टांतों एवं नैतिक विचारों को उपस्थित कर गहन सिद्धान्तों को भी बोधगम्य बना दिया। जिसका फल वर्तमान युग में स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

यद्यपि आज इसे स्वीकार नहीं किया जाता। यदि हम इनके विशिष्ट पहलुओं पर विचार करके देखें तो इनकी शिक्षा को भी किसी भी युग में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। रूस, अमेरिका आदि जैसे पाश्चात्य बड़े-बड़े देश हमारी संस्कृति से यों ही प्रभावित नहीं हो जाते? आज जो कुछ भी हम देख रहे हैं वह सब पुराण-साहित्य का ही योगदान कहा जा सकता है।

अतः यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि पुराण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लोक-प्रिय और अनुपम रत्न हैं।

जैनदर्शन का भारतीय दर्शन में स्थान

भारतीय संस्कृति की परम्परा अति प्राचीन मानी जाती है। मनुष्य ने अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए किसी न किसी दृष्टिकोण का सहारा अवश्य लिखा होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति की प्राचीनता के साथ दार्शनिक प्राचीनता अवश्य दिखलाई देती है। परन्तु इसका प्रारम्भ कब हुआ, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

७२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



दार्शनिक विचारधारा के आदि स्रोत वेद और उपनिषद् माने गये हैं। इनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा दर्शन के साथ जैन-बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं छोड़ दिया जाता है। जो कुछ भी हो अन्य दर्शनों के साथ जैन दर्शन का भी स्वतंत्र विकास हुआ है।

जैनदर्शन का अनेकांत सिद्धांत समन्वयात्मक दृष्टि के आदर्श को लिए हुए है, जो भारतीय दर्शन को सन्देह से मुक्त करके भारतीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास का अनुपम साधन कहा जा सकता है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने जैनदर्शन के प्राक्कथन में लिखा है “भारतीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैनदर्शन का अत्यन्त महत्व है। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परम-सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैनदर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता”¹

जैनदर्शन एक बहुतत्त्ववादी दर्शन है, जिसने वस्तु को अनन्तधर्मात्मक बतलाकर ‘स्याद्वाद’ की निर्दोष शैली को प्रतिपादित किया। अहिंसा की विचारधारा को जनसाधारण के जीवन के विकास के लिए उपयोगी कहा और कर्म के सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति को महान् बतलाया।

जैनदर्शन के क्षेत्र में प्रस्तुत पुराण का महत्व

यह तो इस पुराण का नाम लेते ही सिद्ध हो जाता है कि यह जैनदर्शन का अनुपम रत्न है। डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य ने आदिपुराण को जैनागम के प्रथमानुयोग ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा है तथा इसे समुद्र के समान गम्भीर बतलाया है।²

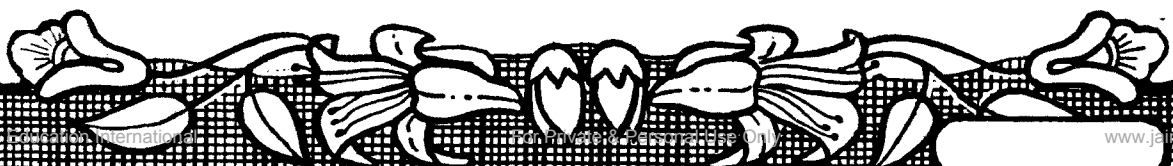
जैन-साहित्य का विकासक्रम तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति से माना जाता है। इन्होंने विक्रम की प्रथम शताब्दि में नवीन शैली से दार्शनिक दृष्टि को सामने रखकर तत्त्वनिरूपण किया था। उसी के आधार पर पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंद आदि महान् आचार्यों ने सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आदि महाभाष्य लिखे गये। जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे ही दार्शनिकों ने जैन दार्शनिकता का अपनी-अपनी शैली में प्रतिपादन शुरू कर दिया।

८ वीं शताब्दि तक जैनदर्शन का अधिक परिष्कृत रूप सामने आ गया था। ९वीं शती में जिनसेन ने भी पूर्वाचार्यों द्वारा जिन कथानकों, तत्त्वों का जिस रूप में वर्णन किया गया है, उसी का आधार लेकर काल वर्णन, कुलकरो की उत्पत्ति, वंशावली, साम्राज्य, अरहंत अवस्था, निर्वाण और युग के विच्छेद³ का वर्णन किया है।

आदिपुराण के विषय में जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य ने पुराण तथा अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि “आगमरूपी समुद्र से उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्न को कौस्तुभ मणि से भी अधिक मानकर अपने हृदय में धारण करें, क्योंकि इसमें सुभाषितरूपी रत्नों का संचय किया गया है। यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा बहुत दूर है इस विषय में मुझे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबसे श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य का मार्ग मेरे आगे है, इसलिए मैं भी उनके मार्ग का अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्ग का आलम्बन कर अवश्य ही पुराण पार हो जाऊँगा”⁴

1. जैनदर्शन पृ० 15-16
2. आदिपुराण प्रस्तावना—पृ० 50
3. आदिपुराण 1/158-162
4. उत्तर पुराण 43/35-40

आचार्य जिनसेन का दार्शनिक दृष्टिकोण : डॉ० उदयचन्द्र जैन | ७३



उत्तम मनुष्यों की हित में प्रीति होती है और साधारण मनुष्यों को जो इष्ट है वही प्रिय होता है, यह पुराण हितरूप भी है और प्रिय भी है अतः सभी को अच्छी तरह संतुष्ट करता है ।

जैन सिद्धान्त में आत्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन किया गया । और जैनाचार्यों ने आत्म-तत्त्वज्ञान पर विशेष जोर दिया है । इसी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की दृष्टि को रखकर जिनसेनाचार्य ने भी पुराण की रचना की, जिसमें उन सभी सिद्धान्तों का कथानकों के साथ समावेश हो गया, जिन्हें पूर्वाचार्यों ने लिपिबद्ध किया था ।

अतः प्रस्तुत पुराण जैनागमों और जैनदर्शन में अपना महत्वपूर्ण रखता है । इसलिए यह पुराण श्रेष्ठ कहा जाता है । इसकी श्रेष्ठता का एकमात्र कारण है स्वाध्याय ।

भारतीय दर्शन मूलतः आध्यात्मिक दर्शन है । इसे वैदिक और अवैदिक दो रूप में विभाजित किया जा सकता है । न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा और वेदांत वैदिक दर्शन हैं । वेद को प्रमाण मानने के कारण यह वैदिक दर्शन माने जाते हैं । सांख्य और मीमांसा निरीश्वरवादी कहे जाते हैं, फिर भी वेदों को प्रमाण मानने के कारण वैदिक दर्शन हैं ।

न्याय-वैशेषिक आत्मा, ईश्वर, जगत् और मोक्ष के विषय में समान मत रखते हैं । ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है । जगत् का प्रत्येक परमाणु नित्य है । ईश्वर की तरह वे अनादि और अनन्त हैं । उनको नष्ट नहीं किया जा सकता है । ईश्वर जगत् के परमाणुओं का निर्माण करता है, इसलिए वह जगत् का निमित्त कारण कहा जाता है और परमाणु जगत् के उपादान कारण हैं । सांख्य निरीश्वरवादी दर्शन है । इसमें प्रकृति और पुरुष को ही विशेष महत्व दिया है । पुरुष ही दुःख-निवृत्तिकर मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है । योगदर्शन सांख्य की तरह निरीश्वरवादी नहीं है । उसने ईश्वर को जगत् का कारण माना है । जब व्यक्ति अपनी चितवृत्तियों से रहित हो जाता है, तब वह ईश्वरीय कारणों को प्राप्त कर लेता है, स्वयं ईश्वर नहीं बन जाता है । मीमांसा ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते हुए भी सर्वज्ञ को विशेष महत्व देता है । वेदांत दर्शन ब्रह्म का स्वरूप ही सब कुछ मानता है । अज्ञान का अभाव हो जाने से जीव ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है । बौद्ध का ईश्वर सुगत है, वे उसकी ही भक्ति-आराधना आदि करते हैं, पर उसे अन्य दार्शनिकों की तरह इष्ट अनिष्ट फल देने वाला नहीं मानते । इसलिए बौद्ध भी अनीश्वरवादी है । जैनदर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही परमात्मा रूप स्वीकार करता है । प्रत्येक आत्मा अनन्त ऐश्वर्य गुणों से युक्त है, जो आत्मा शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है, वही परमात्मा कहलाने लगता है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि आत्मा ही परमात्मा रूप है, प्रत्येक आत्मा परम-पद को प्राप्त कर सकता है ।

आचार्य जिनसेन ने भी ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार किया है, पर वेदांत दर्शन की तरह ब्रह्म-स्वरूप ही सब कुछ नहीं माना । अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच-परमेष्ठियों को वे पंच-ब्रह्मस्वरूप मानते हैं । जो योगिजन परमतत्त्व परमात्मा का बार-बार ध्यान करते हैं, वे 'ब्रह्मतत्त्व' को जान लेते हैं । इससे आत्मा में जो परम आनन्द होता है, वही जीव का सबसे बड़ा ऐश्वर्य है ।¹

इस तथ्य से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा ही ब्रह्मतत्त्व रूप है, प्रत्येक आत्मा ब्रह्मतत्त्व रूप है । इस ब्रह्मतत्त्व की शक्ति की अभिव्यक्ति का नाम परमात्मा या परमब्रह्म है । यह परमब्रह्म ही ऐश्वर्य

1. आदिपुराण 21/229-237

७४ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



गुणों से युक्त होने के कारण ईश्वर कहा जा सकता है, पर यह ईश्वर जगत् का कर्ता, हर्ता नहीं जैसा कि अन्य वैदिक दर्शनों में माना गया है ।

जगत् का अस्तित्व

सभी भारतीय दर्शन जगत् को सत्य मानते हैं । न्याय-वैशेषिक जगत् को सत्य मानकर दिक् में अवस्थित मानते हैं । उनका कहना है कि जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से हुई है और ईश्वर ने ही इन जगत् के परमाणुओं की उत्पत्ति की है । इसलिए ईश्वर की तरह जगत् के परमाणु भी अनादि और अनन्त हैं । सांख्य-योग सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों को प्रकृति के परिणाम कहते हैं । ये परिणाम सत्यरूप हैं । अतः जगत् भी सत्य है । मीमांसादर्शन भी न्याय-वैशेषिक की तरह जगत् को सत्य मानते हैं । वेदांत ने व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य माना है । बौद्ध-जैन भी जगत् को नित्य मानते हैं ।

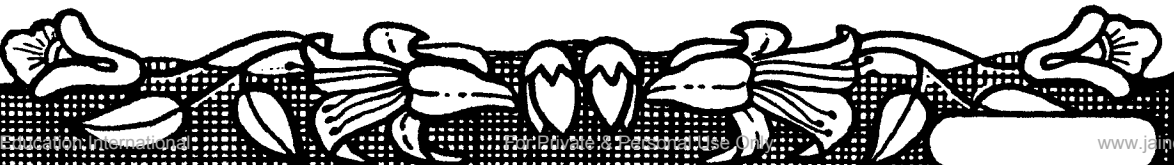
जैनदर्शन जगत् को जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्य रूप मानता है । ये छह द्रव्य नित्य हैं इसलिए यह जगत् भी नित्य है, इसे किसी ईश्वर ने नहीं बनाया, न ही इसका कभी नाश हो सकता है । न्याय-वैशेषिक की इस दृष्टि को अवश्य ध्यान में रखा जा सकता है कि उन्होंने जगत् को परमाणुओं से निर्मित बतलाया है । जैनदर्शन भी परमाणु को मानता है, पर पुद्गल परमाणुओं की उत्पत्ति ईश्वर ने की है ऐसा कदापि नहीं मानता । परन्तु इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि यह दृश्यमान जगत् किन्हीं न किन्हीं पदार्थों के संयोग से अवश्य बना हुआ है, वे पदार्थ या द्रव्य कौन से हैं इसका उल्लेख पूर्व में ही किया गया है ।

विश्व (जगत्) के समस्त पदार्थ किसी न किसी रूप में अवश्य बने रहते हैं, इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जगत् अवश्य है और इस जगत् में जीव और पुद्गल की क्रियायें भी देखी जाती हैं, इनकी क्रियाओं के निमित्त कारण धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं । इसलिए जैनदर्शन इन द्रव्यों के समूह को 'जगत्' 'लोक' या विश्व कहता है ।

आत्मा का अस्तित्व

भारतीय दार्शनिक आत्मा को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं । न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानता है और इसे ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता स्वीकार करता है तथा ज्ञान को वे आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं । जैनदर्शन ज्ञान को आत्मा का ही गुण मानता है । न्याय-वैशेषिक जब आत्मा का मन और शरीर से संयोग होता है तभी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानते हैं । मीमांसादर्शन का मत भी यही है । वह भी चैतन्य और ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानता है तथा सुख-दुःख के अत्यन्त विनाश होने पर आत्मा अपनी स्वाभाविक मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर लेता है, इस समय आत्मा चैतन्य रहित हो जाता है । सांख्य-योग चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं मानता, अपितु चेतन-स्वरूप मानता है । आत्मा (पुरुष) अकर्ता है, वह सुख-दुःख की अनुभूतियों से रहित है । प्रकृति अपने आपको तदाकार करने के कारण सुख-दुःख रूप है और यही सत्त्व क्रियाशील है । और पुरुष शुद्ध चैतन्य और ज्ञानस्वरूप है । वेदान्तदर्शन आत्मा को ही सत्य मानता है, जो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है । अवैदिक दर्शनों में चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता है, वह तो केवल चैतन्य-युक्त शरीर को ही सब कुछ मानता है । बौद्ध अनात्मवादी है वह आत्मा को अनित्य मानता है । शून्यवाद विज्ञानवादी का कहना है कि आत्मा क्षणिक है, विज्ञान-संतान मात्र है । जो क्षण-क्षण में जल के बबूले की तरह परिवर्तनशील है । लेकिन जैनदर्शन आत्मा को नित्य मानता है । यह अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख

आचार्य जिनसेन का दार्शनिक दृष्टिकोण : डॉ० उदयचन्द्र जैन | ७५



और अनन्तवीर्य से युक्त है। जब तक यह बाह्य क्रियाओं में लगा रहता है तब तक उसके यह गुण आच्छादित ही रहते हैं और जब कर्मों का आवरण हट जाता है तब वही आत्मा इन गुणों से युक्त होकर परमात्म रूप को प्राप्त कर लेता है। आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था का नाम ही जैनदर्शन में परमात्मा कहा गया है।

आदिपुराणकार ने आत्मा को ज्ञानयुक्त कहा है।¹ ज्ञान आत्मा का निज गुण है, आगन्तुक गुण नहीं है। तत्त्वज्ञ पुरुष उन्हीं तत्त्वों को मानते हैं, जो सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए हों।²

मोक्ष

भौतिकवादी चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन मोक्ष के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। और सभी ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के कारण को मोक्ष कहा है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग के अनुसार दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद ही जाने का नाम मोक्ष है और यह तत्त्वज्ञान से ही होता है। मीमांसा दर्शन भी दुःख के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष मानता है। वेदान्त दर्शन ने जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव को मोक्ष कहा है। विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द की अवस्था ही ब्रह्म है। और यह अवस्था अविद्या रूप बन्धन के कारण के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है। बौद्ध ने निर्वाण को माना है। यह सब प्रकार के अज्ञान के अभाव की अवस्था है। धम्मपद में निर्वाण को एक आनन्द की अवस्था, परमानन्द, पूर्ण-शांति, लोभ, घृणा तथा भ्रम से मुक्त कहा है।³

जैनदर्शन ने आत्मा की विशुद्ध अवस्था को मोक्ष कहा है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से अनन्तसुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है और यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप साधन से प्राप्त होता है। इस अवस्था में वह अनन्त चैतन्यमय गुण से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में इस आत्मा का न तो अभाव होता है, न ही अचेतन, न ही दीपक की तरह आत्मा का बुझना निर्वाण है। किसी भी 'सत्' का विनाश नहीं होता इसलिए आत्मा का अभाव नहीं हो सकता। कर्मपुद्गल परमाणुओं के छूट जाने पर ही मोक्ष होता है। इस अवस्था में आत्मा निज स्वरूप में अवस्थित रहता है।

कर्म और पुनर्जन्म के विषय को भी चार्वाक को छोड़कर सभी ने स्वीकार किया है। भारतीय दर्शन का कर्मसिद्धान्त शाश्वत नियम पर आधारित है। और इस नियम के अनुसार शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगना पड़ता है तथा बँधे हुए कर्मों के अनुसार पृथक्-पृथक् पर्यायों में जीव की उत्पत्ति होती है। संसाररूप अवस्था में जन्म मरण का चक्र बराबर चलता रहता है। इसके अभाव में जीव स्वतन्त्र हो जाता है।

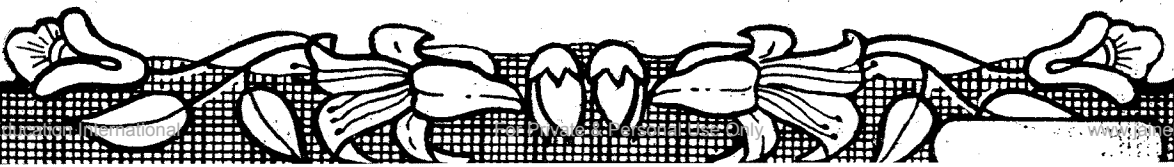
आचार्य जिनसेन ने जीव की अवस्था के लिए स्वतन्त्रता और परतन्त्रता इन दो शब्दों का प्रयोग किया, जो अपने आप में नवीनतम हैं। उन्होंने बतलाया कि "संसार में यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि कर्मबन्धन के वश में होने से यह जीव अन्य के आश्रित होकर जीवित रहता है, इसलिए वह परतन्त्र है। जीवों की इस परतन्त्रता का अभाव होना ही स्वतन्त्रता है।⁴ अर्थात् कर्मबन्धन जीव के परतन्त्रता के कारण कहे जा सकते हैं और कर्मबन्धनरूप परतन्त्रता (संसार) का अभाव जीव की स्वतन्त्रता (मोक्ष) का परिचायक है।

1. आदिपुराण 5/68

2. आदिपुराण 5/85

3. धम्मपद - 202-3

4. आदिपुराण 42/79-81



जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को क्रमशः अक्षरलिपि और अंकलिपि का ज्ञान कराया। राज्य-व्यवस्था के लिए कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन किया। वीर प्रकृति वाले क्षत्रिय, व्यापार और कृषि प्रधान वृत्ति वालों को वैश्य और शिल्प, नृत्य-संगीत आदि कलाओं में निपुण होने से उन्हें शूद्र वर्ण की संज्ञा दी। भगवान् ऋषभदेव के द्वारा श्रमण धर्म स्वीकार कर लेने के उपरान्त भरतचक्रवर्ती ने व्रत, ज्ञान और चारित्र्य में निपुण व्यक्तियों को ब्राह्मण कहा। इस तरह गुण और कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की।

ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों द्वारा प्रजा के लिए आजीविका करने का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म है। लिखकर आजीविका करना मषिकर्म है। जमीन को जोतना-बोना कृषिकर्म है। शास्त्र पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदि के द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म है। व्यापार करना वाणिज्य है और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्पकर्म है। उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करती थी।¹

भगवान् ऋषभदेव कर्मभूमि व्यवस्था के अप्रदूत होने से आदिपुरुष² या आदिनाथ कहलाये। उन्होंने राज्य-व्यवस्था और समाज-कल्याण की भावना से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। नृत्य करने वाली नीलांजना को नष्ट हुआ देखते ही उन्होंने सोचा कि इस संसार में सुख किंचित् भी नहीं है। मनुष्य का यह शरीर एक गाड़ी के समान है जो दुःख रूपी खोटे बर्तनों से भरी है, यह कुछ ही समय में नष्ट हो जावेगी।³

जनतत्व की प्राचीनता

आगमों में जो तत्त्व विचार किया गया है वह भगवान् महावीर के समय से निश्चित ही पुराना है, क्योंकि महावीर ने जो तत्त्वदर्शन का विवेचन किया, वह पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित किया हुआ अवश्य है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध करना सम्भव नहीं, फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि लोक-व्यवस्था, षड्द्रव्य, सप्त-तत्त्व, कर्मसिद्धान्त एवं वर्ण-व्यवस्था आदि का विचार आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव द्वारा किया जा चुका था। उन्हीं के सिद्धान्तों का विचार "आदिपुराण" में विस्तृत रूप से किया गया है।

आदिपुराण में तीर्थंकर, आचार्य और मुनियों के उपदेशों का सम्यक् विवेचन किया गया है। इन उपदेशों द्वारा व्यक्ति के आचरण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का ज्ञान कराया गया है तथा दार्शनिक एवं तत्त्वज्ञान का विशेष उल्लेख किया गया है। तत्त्व की परिभाषा जिनसेन के शब्दों में निम्न प्रकार हैं :—

"जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते"⁴—अर्थात् जीवादि समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व है।⁵ यह तत्त्व सामान्य दृष्टि से एक है और जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है तथा जीव के भी संसारी और मुक्त ये दो भेद माने गये हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं : भव्य और अभव्य। आचार्य जिनसेन ने तत्त्व के चार भेद बताये हैं जो अपने आप में एक नवीन शैली को दर्शाते हैं :—

1. आदिपुराण 16/179 से 187 तक

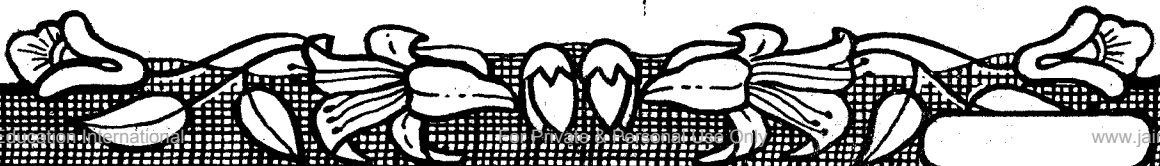
3. आदिपुराण 15/32

4. आदिपुराण 24/86

2. आदिपुराण 1/15

"तमादिदेवं ताभेयं वृषभं वृषभवज्जम्।"

5. आदिपुराण 24/87



१. मुक्त जीव, २. भव्य जीव, ३. अभव्य जीव, ४. अजीव ।

सूर्तिक और असूर्तिक अजीव के दो भेद हो जाने के कारण प्रकारान्तर से तत्त्व के निम्न भेद^१ कहे जा सकते हैं :—

१. संसारी, २. मुक्त, ३. सूर्तिक, ४. असूर्तिक ।

प्रयोजनीभूत सप्त तत्त्व हैं जिनका पूर्व में वर्णन किया जा चुका है । इन तत्त्वों का विवेचन करते हुए आचार्य जिनसेन ने मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने वाले मुनियों के रहन-सहन, आचार-विचार एवं उनके गमनागमन के नियमों का भी वर्णन किया है ।

मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने वाले साधक सब प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, जिन्हें अपने शरीर के प्रति ममत्व नहीं है, जो धर्म में स्थित हैं और संतोष की भावना से जिन्होंने तृष्णा को दूर कर दिया है ऐसे गृह-रहित मुनिराज श्मशान, वन की गुफाओं में निवास करते हैं तथा सिंह, रीछ, भेड़िया, व्याघ्र, चीता आदि जंगली पशुओं की भयंकर गर्जना वाले स्थान में स्वाध्याय तप, ध्यान आदि दैनिक क्रियाओं को करते हुए पर्यकासन से बैठकर, वीरासन से बैठकर अथवा एक करवट से ही सोकर रात्रियाँ बिता देते हैं ।^२

वे रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए सांसारिक कार्यों को छोड़कर त्रसकाय, वनस्पतिकाय, पृथिवी-काय, जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय इन छह काय के जीवों की बड़े यत्न से रक्षा करते हैं । वे हृदय में दीनता से रहित अत्यन्त शांत, परम उपेक्षा सहित, तीन गुप्तियों के धारक तथा जिनके श्रुतज्ञान ही नेत्र हैं, जो परमार्थ को अच्छी तरह जानते हैं । इसलिए वे मुनिजन समीचीन मार्ग का निरन्तर चिंतन करते हुए आहार^३—विहार आदि क्रियाओं को करते रहते हैं ।

तत्त्व-विचार

“भारतीय साहित्य में तत्त्व के विषय में गम्भीर रूप से विचार किया गया है । “तत्” शब्द से “तत्त्व” शब्द बना है । संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम है । सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं । “तत्” शब्द से भाव अर्थ में “त्व” प्रत्यय लगकर “तत्त्व” शब्द बना है । जिसका अर्थ होता है उसका भाव—“तस्य भावः तत्त्वम्” । अतः वस्तु के स्वरूप को और स्वरूपभूत वस्तु को तत्त्व कहा जाता है ।

दर्शन साहित्य के क्षेत्र में तत्त्व का प्रयोग गम्भीर चिन्तन-मनन के लिए हुआ है । चिन्तन-मनन का प्रारम्भ ही तत्त्व—वस्तुस्वरूप के विश्लेषण से होता है । कि तत्त्वम्—तत्त्व क्या है । यही मूलभूत जिज्ञासा दर्शन क्षेत्र में है ।^४



1. आदिपुराण 24/88

3. आदिपुराण 24/199-208

2. आदिपुराण 24/172-192

4. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

